तृतीय वर्ष

शाह गोविन्दजी वीरम फेक्टरी कम्पाउन्ड़, मोंढा रोड, औरंगाबाद

(सम्यग्ज्ञान विशारद) अभ्यास ४

शुभाशीर्वाद

तपस्वीरत्न, अचलगच्छाधिपति प.पू.आ.भ. श्री गुणोदयसागरसूरिश्वरजी म.सा.

दिव्य कृपा

आगम आराधिका बा.ब्र.प.पू. मुक्तिश्रीजी म.सा.

शासन प्रभाविका प.पू. जयलक्ष्मीश्रीजी म.सा.

मार्गदर्शिका- प्रेरक - सा. डॉ. जयदर्शिताश्रीजी म.सा. M.Sc., Ph.D.

हिंदी अनुवाद - सौ. काश्मीरा लोडाया, सौ. भारतीबेन दंड, सौ. भारती लोडाया

सौजन्य : एक श्रुतभक्त परिवार

स्तोत्र - अर्थ - रहस्य

बृहद् शांति - सूत्र परिचय

महर्षि नंदिषेणकृत अजित-शांति-स्तव उसकी मंगलमय रचना के कारण उपसर्ग निवारक और रोग विनाशक माना जाता है । श्रीमान देवसूरि कृत शांति-स्तव उसकी मंत्र मय रचना के कारण सलिलादि-भय-विनाशी और शांत्यादिकर माना जाता है, तथा वादि वेताल श्री शांतिसूरि कृत यह शांतिपाठ जो सामान्य रुप से बृहदशांति या वृद्धशांति (बडी शांति) के नाम से पहचाना जाता है, वह इसमें आये शांतिमंत्रो से शांतिकर, तुष्टिकर और पुष्टिकर माना जाता है ।

यह सूत्र जिनबिंब की प्रतिष्ठा, रथयात्रा तथा स्नात्र के अंत में बोला जाता है ।

बृहच्छान्तिः (बडी शांति)

मूल : १. मंगलाचरण - (मन्दाक्रान्ता)

भोः भोः भव्याः ! शृणुत वचनं प्रस्तुतं सर्वमेतद्, ये यात्रायां त्रिभुवनगुरोरार्हता भक्तिभाजः ।
तेषां शान्तिर्भवतु भवतामर्हदादिप्रभावा - दारोग्यश्री-धृति-मति-करी क्लेश-विध्वं सहेतुः ।।१।।

-: शब्दार्थ :-

भोःभोः - हे ! हे !

भव्याः - भवयजनो / महानुभावो

शृणुत - सुनो

वचन - वचन

प्रस्तुतं - प्रासंगिक

सर्वम् - सर्व

अेतद् - यह

ये - जो

यात्रायाम् - यात्रा में, रथयात्रा में

त्रिभुवन गुरोः - त्रिभुवन गुरु की जिनेश्वर की

आर्हताः - श्रावको

भक्तिभाजः - भक्तिवंत

तेषां - उन्हें

शान्तिः - शांति

भवतु - हो

भवताम् - आप श्रीमनो को

अर्हदादि प्रभावात - अर्हद वगैरह के प्रभाव से

आरोग्य श्री-धृति-मति-करी - नीरोगिता, लक्ष्मी, चित्तस्वास्थ और बुद्धि को देने वाली

क्लेश - पीडा

विध्वंस - नाश करने में

हेतु - कारणभूत

अर्थ - संकलना : हे भव्यजनो ! तुम ये सभी मेरा प्रासंगिक वचन सुनो जो श्रावक जिनेश्वर की रथयात्रा में भक्तिवंत हैं, आप श्रीमानो को अर्हद वगैरह के प्रभाव से आरोग्य, लक्ष्मी, चित्त की स्वस्थता और बुद्धि देने वाली तथा सर्व क्लेश पीडा का नाश करने में कारणभूत ऐसी शांति प्राप्त हो ।

भोः भोः भव्यलोका ! इह हि भरतैरावत-विदेह-सम्भवानां समस्त-तीर्थकृतां जन्मन्यासन-प्रकम्पानन्तरमवधिना विज्ञाय, सौधर्माधिपतिः, सुघोषा-घंटा-चालनानन्तरं, सकल-सुरासुरेन्द्रैः सह समागत्य, सविनयमर्हद्-भट्टारकं गृहीत्वा, गत्वा कनकाद्रिशृंङ्गे, विहित-जन्माभिषेकः शान्तिमुद्घोषयति यथा, ततोहं कृतानुकारमिति कृत्वा ''महाजनो येन गतः स पन्थाः'' इति भव्यजनैः सह समेत्य, स्नात्रपीठे स्नात्रं विधाय शान्तिमुद्घोषयामि, तत्पूजा-यात्रा-स्नात्रादि-महोत्सवानन्तरमिति कृत्वा कर्णंदत्वा निशम्यतां निशम्यतां स्वाहा ।।२।।

-: शब्दार्थ :-

भोःभोः भव्यलोका - हे भव्यजनो !
इह ही - इस जगत में, इसी ढाई द्वीप में
भरतैरावत - भरत, ऐरावत
विदेह सम्भवानां - महाविदेह क्षेत्र में जन्मे
समस्त तीर्थंकृताम - सर्व तीर्थंकरों के
जन्मनि - जन्म समये
आसन - सिंहासन
प्रकम्पानन्तरम - कंम्पायमान होने के बाद
अवधिना - अवधिज्ञान से
विज्ञाय - जानकर
सौधर्माधिपति - सौधमेंद्र
सुघोषा-घंटा-चालनानन्तर - सुघोषा घंटा बजाने के पश्चात
सकल सुरासुरेन्द्रैः - सभी सुरेंद्र और असुरेंद्र के साथ आकर
सविनय - विनयपूर्वक
अर्हद्भट्टारकं - पूज्य अरिहंत देव को
गृहित्वा - हाथ में ग्रहण करके
गत्वा - जाकर
कनकादिश्रृंगे - मेरु पर्वत के शिखर पर
विहित जन्माभिषेक - जिसने जन्माभिषेक किया है
आसन - सिंहासन
शान्तिम् उद्घोषयति - शांति की उद्घोषणा करते हैं ।
यथा - जिस तरह
ततः - उस तरह
अहम् - मैं
कृतानुकारमिति कृत्वा - करे हुए का अनुकरण करना यह मानकर
कृत - करा हुआ, अनुकार - अनुकारण
इति - यह, कृत्वा - करके / मानकर
महाजनो येन गतः स पन्थाः' इति - जिस मार्ग से श्रेष्ठ पुरुष गये वही मार्ग' ऐसा जानकर
भव्यजनैःसह - भव्यजनो के साथ
समेत्य - आकर
स्नात्र पीठे - स्नात्र पीठ पर
स्नात्र - स्नात्र
विधाय - करके
शान्तिम् - शांति की
उद्घोषयामि - उद्घोषणा करता हूँ
तत् - तो
पूजा-यात्रा-स्नात्रादि-महोत्सवानन्तरमिति कृत्वा- पूजा महोत्सव, (रथ) यात्रा महोत्सव, स्नात्रयात्रा महोत्सव वगैरह की पूर्णाहुति करके
कर्णंदत्वा - कान देकर
निशम्यतां निशम्यतां - सुनो - सुनो
स्वाहा - स्वाहा ! यह पद शांतिकर्म का पल्लव है ।

अर्थ-संकल्पना :- हे भव्यजनो ! इसी ढाई द्वीप में भरत ऐरावत और महाविदेह क्षेत्र में जन्मे सभी तीर्थंकरों के जन्म समय पर स्वयं का आसन कंपायमान होते ही सौधर्मेंद्र अवधिज्ञान से (तीर्थकर का जन्म हुआ) जानकर, सुघोषा घंटा बजवाकर (खबर करते हैं, फिर) सभी सुरेंद्र और असुरेंद्र साथ आकर विनयपूर्वक श्री

अरिहंत भगवान को हाथ में ग्रहण करके मेरुपर्वत के शिखर पर ले जाकर जन्माभिषेक करने के पश्चात जिस तरह शांति की उद्घोषणा करते हैं, उसी तरह मैं भी करे हुए का अनुकरण करना ऐसा मानकर ''महाजन जिस मार्ग पर जायें वही मार्ग'' ऐसा जानकर भव्यजनो के साथ आकर स्नात्रपीठ पर स्नात्र करके शांति की उद्घोषणा करता हूँ, तो तुम सब पूजा महोत्सव (रथ) यात्रा महोत्सव, स्नात्र महोत्सव वगैरह की पूर्णाहूति करके कान देकर सुनो ! सुनो ! स्वाहा ...२

मूल - (३ शांतिपाठ)

(१) ॐ पुण्याहं पुण्याहं प्रीयन्तां प्रीयन्तां, भगवन्तोऽर्हन्तः सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनस्त्रिलोकनाथास्त्रिलोकमहितास्त्रिलोक पूज्यास्त्रिलोकेश्वरास्त्रिलोकद्योतकराः ।।३।।

-: शब्दार्थ :-

ॐ - ॐकार, परमतत्व की विशिष्ट संज्ञा प्रणवबीज, एक अक्षररुप यह परम तत्व का वाचक है और अक्षरो को अलग करे तो पंच परमेष्ठि का वाचक है

पुण्याहं - पुण्याहं - आज का दिन पवित्र है यह अवसर मांगलिक है, पुण्य - पवित्र, अहन् - दिन

प्रीयन्ताम् प्रीयन्ताम् - प्रसन्न हो, प्रसन्न हो

भगवन्त - भगवन्तो

अर्हन्त - अरिहंतो

सर्वज्ञाः - सर्वज्ञो

सर्वदर्शिन - सर्व दर्शीओ

स्त्रिलोकनाथाः - त्रिलोक के नाथ

त्रिलोकमहिता - त्रिलोक से अर्चित

त्रिलोकपूज्या - त्रिलोक के पूज्यों

त्रिलोकेश्वरा - त्रिलोक के इश्वरों

त्रिलोकद्योतकराः - त्रिलोक में उद्योत करने वालों

अर्थ-संकल्पना :- आज का दिन पवित्र है, यह अवसर मांगलिक है, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, त्रिलोक के नाथ त्रिलोक से अर्चित, त्रिलोक के पूज्य, त्रिलोक के ईश्वर, त्रिलोक में उद्योत करने वाले अरिहंत भगवंतो प्रसन्न हो प्रसन्न हो...३

मूल -

ॐ ऋषभ - अजित-सम्भव-अभिनन्दन-सुमति-पद्मप्रभ-सुपार्श्व-चंद्रप्रभ-सुविधि- शीतल-श्रेयांस-वासुपूज्य-विमल-अनन्त-धर्म-शान्ति-कुन्थु-अर-मल्लि-मुनिसुव्रत-नमि-नेमि-पार्श्व-वर्द्धमानान्ता जिनाः शान्ताः शान्तिकरा भवन्तु स्वाहा।।४।।

शब्दार्थ

स्पष्ट है

अर्थ-संकलना - ऋषभदेव, अजितनाथ, संभवनाथ, अभिनंदनस्वामी, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुप्पार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, सुविधिनाथ, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपुज्यस्वामी, विमलनाथ, अनंतनात, धर्मनाथ, शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसव्रतस्वामी, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वर्धमानस्वामी जो अंतिम

है, ऐसे चोवीस शांत जिनेश्वरो हमें शान्ति देने वाले हो । स्वाहा....४

मूळ -

ॐ मुनयो मुनिप्रवरा रिपुविजय-दुर्भिक्ष-कान्तारेषु दुर्गमार्गेषु रक्षन्तु वो नित्यं स्वाहा ।।५।।

-: शब्दार्थ :-

ॐ - ॐ
मुनयो मुनिप्रवरा - मुनियों में श्रेष्ठ ऐसे मुनिओ
रिपुविजय- शत्रुद्वारा करने में आये विजय में
दुर्भिक्ष - दुष्काल में (प्राण धारण करने के प्रसंग पर)
कान्तारेषु - गहन अटवी में (प्रवास करते समय)
दुर्ग-मार्गेशु - विकट मार्ग में
रक्षन्तु - रक्षा करो
वो - तुम्हारा
नित्यं - प्रतिदिन

अर्थ-संकलना - ॐ शत्रु के द्वारा करने में आये विजय - प्रसंग में, दुष्काल में (प्राण धारण के प्रसंग पर) गहन अटवी में (प्रवास करते समय) तथा विकट मार्गो को उल्लांघने के समय मुनिओं में श्रेष्ठ ऐसे मुनिओं तुम्हारा नित्य रक्षण करे.....५

मुल -

(३) ॐ - ह्रीँ - श्री - धृति-मति-कीर्ति-कान्ति-बुद्धि-लक्ष्मी-मेधा-विद्या-साधन-प्रवेश-निवेशनेषुसुगृहीतनामानो जयन्तु ते जिनेन्द्राः ।।६।।

-: शब्दार्थ :-

सुगृहीत नामान - जिनके नाम का आदर पूर्वक उच्चारण किया जाता है ।
जयन्तु - जय देने वाले हो । सानिध्य करने वाले हो ।
ते - वे
जिनेन्द्रा - जिनवर

अर्थ-संकलना - ॐ ह्रीँ -श्रीँ -धृति-मति-कीर्ति-कान्ति-बुद्धि-लक्ष्मी- और मेधा यह नव स्वरुप वाली सरस्वती की साधना में योग के प्रवेश में, तथा मंत्रजाप के निवेशन में जिनके नाम का उच्चारण आदरपूर्वक किया जाता है, वे जिनेश्वरो जय पाओ, सानिध्य करने वाले हो ।

जिनशासन के महाप्रभावक आचार्य भगवंत

तत्वार्थसूत्र रचयिता, विरल ज्ञानी

(७) श्री उमास्वाति महाराज

वीर निर्वाण सवंत ७७० के आसपास एक अत्यंत प्रभावशाली एवं प्रकांड पंडित जिनशासन में प्रकृट हुए.... जिनका सौभाग्यशाली नाम था..... श्रीउमास्वाति महाराज ।

न्यग्रोदिका गांव उनकी जन्मभूमि थी.....

कौभिषणी नाम का उनका गोत्र था.....

उमा उनकी मातुश्री का नाम था.....

स्वाति उनके पिताश्री थे.....

वेदशास्त्रो में पारंगत थे..... तो संस्कृत भाषा के प्रकांड पंडित थे....

जिनप्रतिमा के दर्शन से वैराग्य पाकर, संसार त्यागकर साधु बनने उद्यमशील हुए थे, माता और पिता के नाम को जोडकर दीक्षा के बाद उनका नाम उमास्वाति रखने में आया था ।

पुज्य उमास्वातिजी म.सा. के दीक्षा गुरु घोषनंदि आचार्य भगवंत थे, गुरु भगवंत ग्यारह अंग के धारक थे । पूज्य उमास्वातिजी म.सा. के विद्यागुरु पुज्यपाद ''मूल'' नाम के वाचनाचार्य थे ।

उमास्वातिजी जिनशासन के एकमात्र ऐसे श्रमणरत्न है जिन्हें दोनों श्वेतांबर और दिगंबर परम्परा में मान्यता देने में आयी है, उनके ज्ञान और विद्वता की प्रशंसा करने में आयी है ।

पूज्य उमास्वातिजी महाराज ने अपने जीवनकाल के दरम्यान अनेक ग्रंथो की रचना की है । श्वेतांबर परम्परा उन्होंने पांच सौ ग्रंथ रचे है इस बात को मान्यता देता है, स्वीकारता है । तत्वार्थसूत्र भाष्य सह जंबूद्वीप-समास, पूजा प्रकरण, श्रावक प्रज्ञप्ति, क्षेत्रसमास, प्रशमरति प्रकरण वगैरह ग्रंथ पू. उमास्वातिजी के ही रचे हुए है ।

''तत्वार्थसूत्र'' पूज्यपाद उमास्वातिजी म. की अद्‌भुत ज्ञानशक्ति का परिचय कराने वाला एक अमूल्यग्रंथ है । जिनशासन के त्रिकाल सत्य सिद्धांतो का ये खजाना है, तो साथ साथ में आगमग्रंथ के महत्व के सूत्रो का अपूर्व संग्रह है । ''तत्वार्थ सूत्र'' एक जिनशासन का सार एवं अर्क रुप ग्रंथ है । यह तो जिन शासन का अजोड ग्रंथ है जो जिनशासन का प्रतिनिधित्व करने में समर्थ है । ''तत्वार्थ सूत्र'' में क्या नहीं है ? यह तो बताओ ! विश्व का एक भी विषय ऐसा नहीं जिसकी तत्वार्थसूत्र में स्पर्शना न हुई हो । इसमें जीवो का स्वरुप दर्शाता जीवविज्ञान है, तो जड का परिचय कराता जड विज्ञान भी है । भूमि की बाते करता भूगोल भी है तो आकाश का स्वरुप दिखाता खगोलशास्त्र भी है, विश्व के स्वरुप को समझाता लोक-अलोक विज्ञान है, तो शरीर के स्वरुप को समझाता आरोग्यशास्त्र भी है । आत्मा की अनंतशक्ति का परिचय देने वाला आत्मविज्ञान भी है, मन साधा उसने सब साधा, उसका अहसास करता मानसशास्त्र भी है ।

तत्वार्थ सूत्र में १० अध्याय और ३५७ सूत्र है ।

प्रथम चार अध्याय की सूत्र संख्या १५८ विषय - जीव के भेद, प्रभेद, नरक और देव भूमियाँ तथा भौगोलिक स्थिति का निरुपण करने में आया है ।

पांचवे अध्याय में ४२ सूत्र है, इन सूत्रो के द्वारा धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय का विवेचन करने में आया है ।

छठ्ठे अध्याय में २७ सूत्र है, इन सूत्रो के द्वारा आश्रवतत्व का रहस्य बताने में आया है ।

सातवें अध्याय में ३९ सूत्र है, इन सूत्रो के द्वारा संवरतत्व की अपूर्व समझ देने में आयी है ।

आठवें अध्याय में २६ सूत्र है, तो यहां कर्मतत्व का निरुपण करने में आया है ।

नववें अध्याय में ४७ सूत्र है और इनके द्वारा निर्जरातत्व की सरल भाषा में समझ देने में आयी है ।

दसवें अध्याय में ७ सूत्र है जिसमे मोक्षतत्व की प्ररुपणा करने में आयी है ।

''तत्वार्थसूत्र'' पर उमास्वातिजी के द्वारा की ''तत्वार्थाधिगमभाष्य'' भाष्य की ''स्वोपज्ञ'' टिका की रचना करने में आयी है । जिनशासन के अनेकानेक महाचार्यो ने ''तत्वार्थसूत्र'' पर विवेचन लिखा है ।

दिगंबर संप्रदाय में भी ''तत्वार्थ सूत्र'' का महत्वपूर्ण स्थान है । उनकी तत्वार्थ सूत्र की टीकाये ''सर्वार्थ सिद्धि'', श्रुतसागरी, राजवार्तिक एवं श्लोकवार्तिक नाम से प्रसिद्ध है ।

तत्वार्थसूत्र की सबसे बडी टीका श्वेतांबर परम्परा के श्रीसिद्धसेन गणि की है ।

आचार्य हरिभद्रसुरि ने तत्वार्थभाष्य पर लघुवृति की रचना की है, जिसमें प्रथम पांच अध्यायो का ही समावेश होता है । गत सदी के आचार्य भगवंत श्री आत्मारामजी महाराज ने, श्रीउमास्वातिजी ने ''तत्वार्थ सूत्र'' का कौन सा सूत्र, कौनसे आगम में से उद्धरित किया है वो बताया, विशिष्ट संशोधन भी प्रगट किया है ।

ऐसे आगमज्ञाता तत्वार्थ सूत्र रचयिता उमास्वातिजी महाराज को कोटि-कोटि वंदना ।

दिगंबर परम्परा पूज्यश्री को श्रुतकेवली समान मानती है ।

जिनशासन के महाप्रभावक आचार्य भगवंत

१४४४ ग्रंथ के रचयिता

(८) पुज्यपाद श्री हरिभद्रसूरि

मेवाड की वीर भूमि.....

चित्रकूट पर्वत जो चित्तोडगढ के नाम से प्रसिद्ध है.....

इसी पर्वत की तलहटी में चित्रकूट (चित्तोड) नाम का नगर था.....

आज से लगभग १२०० वर्ष पूर्व जितारि नामक राजा राज्य करते थे.....

राजा प्रजावत्सल, निति वत्सल, दया वत्सल एवं रणवत्सल थे । इस राजा के जो पुरोहित थे उनका नाम श्रीहरिभद्र था ।

जाति से ब्राम्हण और कर्म से पुरोहित थे, चौदह विद्या के जानकार थे, विद्वान थे, उत्कृष्ट नैयायिक थे, साथ में राजमान्य पुरोहित होने से अहंकारी थे, उन्हें पूरा विश्वास था की छः खंड में उनके जैसा या उनके शिष्य जैसा भी कोई पंडित नहीं है, इसलिये इस हरिभद्र भूदेव ने तीन निशानीयां रखी थी । एक सीढी, एक कुदाली और एक जाल, जिससे वादी को सीढी से आकाश में से, कुदाली से जमीन में से और जाल से पानी में से भी पकडा जा सके । ''मेरे जैसा समस्त जंबूद्वीप में कोई भी नहीं है '' यह दर्शाने वो अपने हाथ में जंबूलता रखते । इस संसार में कोई नहीं पढा, इतना पढने से पेट फट न जाय इसके लिये पेर पर पट्टा बांधते, इन सब के साथ उनकी एक महाप्रतिज्ञा थी ''जिसका कहा हुआ मैं नहीं समझ पाऊं तो उसका शिष्य बन जाऊंगा ।''

एक बार हरिभद्र राजमहल में से निकलकर अपने घर की ओर जा रहे थे, मार्ग में साध्वीजी भगवंतो का उपाश्रय आता था, उपर साध्वीजी भगवंत स्वाध्याय कर रहे थे, उनकी गाथा थी -

''चक्कीदुगं हरिपणगं पणगं चक्कीण केसवो चक्की ।
के सव चक्की केसव दु चक्की केसव चक्की य ।।''

हरिभद्र भट्टजी ने यह गाथा बराबर सुनी, चिंतन किया, उसका अर्थ समझने का बहुत ही प्रयास किया पर अर्थ नहीं समझा । भट्टजी जैन साध्वी के पास पहूँच गये, ''आर्याजी ! इस गाथा में तो आपने बहुत ही चकचकाट किया है ।''

जैन साध्वीजी ने शांति से जवाब देते हुए कहा - ''बापू ! नया-नया तो ऐसा ही होता है ।''

हरिभद्र भट्ट को अपनी प्रतिज्ञा याद आयी आपश्री अति नम्र बनकर विनम्र भाव से साध्वीजी भगवंत को कहा ''हे माताजी ! आप मुझे अपना चेला बनाइये और फिर मुझे इस गाथा का अर्थ समझाइये । ''

साध्वीजी भगवंत ने समझाया '' साध्वीजी श्रावक को चेला नहीं बनाते है, यदि तुम्हें चेला बनना हो, गाथा का अर्थ समझना हो तो इसी नगरी में श्री जिनभट्टमुनिजी के पास पधारो ।

पू. हरिभद्र भट्ट ने साध्वीजी का शिष्य बनने के लिये बहुत ही प्रयास किया, परंतु परिणाम शून्य । अंत में आपश्री महत्तरा साध्वीजी को साथ में लेकर जिनभट्टमुनिजी के पास जाने को निकले, मार्ग में जिनमंदिर आया, दोनों दर्शनार्थ जिनालय में गये । परमात्मा की शांतरस में निमग्न जिनप्रतिमा को निरखते ही

रहे और मानो अपने पाप मल को धोते रहे हो, वहां से विशुद्ध होकर गुरुचरणों में जीवन समर्पित कर मुनिहरिभद्र बने, समय जाने पर आचार्य हरिभद्र बने ।

पू. जिनभट्टजी पू. हरिभद्रसूरि के आज्ञादायक यानि गच्छाधिपति गुरु थे ।

पू. जिनदत्तसूरि उनके दीक्षाकारी गुरु थे ।

''याकिनी महतरा'' वो प. हरिभद्रसूरि के धर्मजननी माता थे, अपनी प्रत्येक कृति में, प्रत्येक ग्रंथ में उन्होंने अपने आप को ''याकिनी महत्तरा सुनु'' के रुप में ही परिचित करवाया है, उनके धर्मपुत्र के रुप में ही प्रगट हुए है ।

पू. हरिभद्रसूरि के दो भांजे हंस और परमहंस वैराग्य पाकर उनके पास ही दीक्षित हुए । व्याकरण, साहित्य एवं दर्शन शास्त्रो का अभ्यास करवा कर दोनों को निपुण किया ।

उस समय मगध के आसपास बौद्धधर्म की प्रबलता थी, उनके अनेक विद्यापीठ थे उसमें एक विद्यापीठ अत्यंत विशाल था जिसमें १५०० अध्यापक एवं १५००० विद्यार्थी थे । हंस-परमहंस को इस विद्यापीठ में जाकर बौद्ध शास्त्रो को जानने की लगन लगी । गुरुआज्ञा नहीं मिलने के बाबजूद दोनों वहां गये, मुनि में से भिक्षु बने, अपने आचार वगैरह में परिवर्तन किया, प्रवेश मिला, अभ्यास करने लगे, होशियार थे, कठिन से कठिन विषय को सहजता से समझने लगे, बुद्धिबल से उपयोगी पाठ कंठस्थ करने लगे, उनके शास्त्रो में दिये गये जिनमत के प्रतिवाद की संक्षिप्त नोट बनाने लगे ।

एक बार इस संक्षिप्त नोट के पन्ने उडकर अन्य भिक्षु के हाथ में आये, उसने कुलपति को दिये, कुलपति समझ गये की ये पन्ने हमारे मत के शत्रु के है, जैन साधु के है, उन्हें पहचानना किस तरह से ? भोजनशाला के मार्ग पर जिनप्रतिमा का आलेखन करवाया, कौन क्या करता है ? नजर रखी, सब आरेखित मूर्ति पर पैर दे देकर जाने लगे । हंस-परमहंस आये, अंतर की जिनभक्ति की ज्योत ज्यादा प्रज्वलित हुई, जिन की आशातना कैसे सहन हो ? उन्होंने प्रतिमा के कंठ पर तीन रेखाये बनायी, प्रतिमा जिन के बदले बुद्ध की बन गयी फिर दोनों आगे बढे, कुलपति समझ गये, अन्य परिक्षाओ से खात्री की, मार डालने की योजना बनायी, हंस-परमंस को भनक लग गयी, विद्यापीठ में से निकल कर गुरु के नगर की ओर भाग निकले, कुलपति ने बौद्ध धर्मी राजा का लश्कर पीछे दौडाया, बचने की संभावना नहीं नजर आते देख बडे भाई हंस ने छोटे भाई परमहंस से कहा '' पल का भी विलंब किये बिना सामने दिख रहे नगर में पहुंच जा, वहां के सूरपाल राजा की सहायता लेकर गुरु चरणो में पहुंच जाना, मेरे अविनय और अपराध की माफी मांगना ।''

परमहंस ने हंस की आज्ञा मान, घोडे की तरह दौडता उस नगर में पहुंचा ।

हंस जो सहस्त्रयोधी था, सामने आये लष्कर को त्रास पहुंचाते, कितनो को मारते, कितनो को गिराते, कितनो को भगाते हुए एकलवीर बनकर लडने लगा, शरीर चलनी की तरह बन गया, अनेको को गिराकर अंत में एक वीर की तरह भूमि पर ढल पडा ।

शरणागत परमहंस की सुरपाल राजा ने रक्षा की, परमहंस के साथ शास्त्रार्थ करना जो हारे उसके प्राण लेना ऐसा निश्चित हुआ, जिनभक्ति के प्रभाव से परमहंस जीता, गुरु को मिलने की प्रबल इच्छा से चित्रकुट पहुंचा, गुरु चरणो में वंदन कर अपने अपराध की बारम्बार क्षमा याचना की । जो घटा वो विस्तार से बताया, बडे भाई हंस की वीरगति की बात बताते-बताते गुरु की गोद में ढल पडे, प्राण पंखेरु उड गये ।

पू. हरिभद्रसूरि परमहंस के मुख से वृतांत सुन हंस-परमहंस की अकाल मृत्यु से मोहांध बने, शोक में मग्न बन गये, शोक क्रोध में परिणित हुआ और अंतर में बदला लेने की आग उगलती भावना प्रबल बनी। सुपराल राजा के पास जाकर बौद्धो के साथ वाद करने की इच्छा प्रगट की, सुरपालराजा ने कुलपित के पास दूत भेजा, कुलपति विद्यामद के कारण वाद शास्त्रार्य के लिये तैयार हुआ, परंतु दूत से कहा हारे उसे प्राणदंड मिलने की शर्त मंजूर हो तो ही शास्त्रार्थ के लिये आयेंगे, दूत ने कहा जो हारेगा वो धगधगते तेल की कडाही में पडेगा, यानि अपने आप प्राणदंड मिलेगा।'' शर्ते नश्चित हो गयी, शास्त्रार्थ हुआ, पू. हरिभद्रसूरि जीते, कुलपति हारा, धगधगते तेल की कडाही में कहा गायब हो गया।

रे मोह ! तेरी गति न्यारी है, जिनशासन के महान आचार्य शिष्य मोह से ऐसे क्रोध में पागल बने, मानो भजिये ही न तल रहे हो वैसे वे एक के बाद एक बौद्धाचार्यो के साथ शास्त्रार्थ करते उन्हें हराते हुए प्राणदंड देने लगे, उनके क्रोध का शमन नहीं हुआ, बौद्ध संघ में हाहाकार मच गया, सारे प्रकांड पंडित बिखर गये, पू. हरिभद्रसूरि ने अन्य तरीके से भी बौद्धो का नाश करने का संकल्प किया।

आज्ञादायक गुरु श्रीजिनभट्टजी को विषम मोह और क्रोध के समाचार मिले, शिष्य पर दया आयी, उन्होंने दो शिष्यो को पू. हरिभद्र के कषाय को उपशांत करने कितनी ही गाथाये देकर उनके पास भेजा ओर विशेषरुप से कहलवाया की -

''कषायो तो वधे तेना जे सेवे कूटशास्त्रने
वीरवाणी सुधा चाख्या पछी तो ते वधे नहीं''

स्वप्न में से कोई जागे.....
कोई दीर्घ विकल्प के जाल में से जागे....
नींद में से कोई जागे वैसे ही.....

गुरु उपदेश की असर होते ही श्रीहरिभद्रसूरि जाग गये, क्रोधपिशाच को, मोह को पहचान कर उसमें से मुक्त बने, खुद ने अपने आप का किये अकल्याण का भान हुआ, आंखो में से पश्चाताप के आंसू बह निकले, बाजी हाथ में से सरक गयी थी, पश्चाताप के सिवाय अब कोई मार्ग नहीं था।

राजा की अनुमति ली, गुरु भगवंतो के महाउपकारो का स्मरण करते हुए गुरुचरणों में पहुंच गये, संसार से हारे हुए एवं थके हुओ का विश्रामस्थल जिन साधु है इसी तरह भूले पडे हुए साधु का स्थान गुरुचरण व गुरशरण के अतिरिक्त कहां हो सकता है ? गुरु के पास पहुंच कर, परमोपकारी के चरणों में बैठ गये, गुरुदेव का वात्सल्य भरा हाथ उनके मस्तक पर फिरने लगा। अंतर की आग ठंडी हो गयी, गुरु के पास से प्रायश्चित द्वारा स्वयं निर्मल बने, अनेको को निर्मल बनाने १४४४ ग्रंथो की रचना कर जिनशासन पर महा उपकार किया। स्व-पर कल्याणकर जिनशासन के अद्वितीय प्रभावक बने।

योग के साथ जुडे उनके पवित्र ग्रंथ है - ''योग दृष्टि समुच्चय'', ''योगबिन्दुं'', ''योगशतक'', एवं ''योगविंशिका'' इन चार ग्रंथो ने उनका प्रभाव समग्र विश्व में जैनेतर समाज में भी विस्तरित किया है। योग से लगती जैन जैनेतर प्रत्येक परम्परा की बातो को अपनी बुद्धि के प्रभाव द्वारा विशिष्ट तरीके से निरुपित करके जगत के समक्ष प्रस्तुत किया है। उसमें भी खास करके इन चारो ग्रंथो का क्रम भी बहुत ही अद्‌भुत है। योग में

विशेष रुचि रखने वाले जीवो के लिये उन्होंने विस्तृत रचना की है और उसे नाम दिया ''योगदृष्टि समुच्चय'' जो लगभग साडे सात सौ गाथा से ज्यादा गाथा अर्थात श्लोक वाला है । तो मध्यम रुचिवाले जीवो के लिये उन्होंने ''योगबिंदु'' और ''योग शतक'' नामक ग्रंथो की रचना की है जिसमें योगबिंदु ग्रंथ में लगभग सवा तीन सौ गाथा है और ''योगशतक'' ग्रंथ में उसके नाम अनुसार सिर्फ सौ श्लोक अर्थात गाथाये है । इससे भी अत्यंत संक्षिप्त रुचिवाले जीवो के लिये इन सब का सार सिर्फ बीस गाथा में देकर ''योगविंशिका'' ग्रंथ की रचना की है । योग के क्षेत्र में उनकी ये रचनाये महर्षि पतंजलि के ''योगसूत्र'' की रचना की याद दिलाती है । जैन परंपरा के ये महर्षि पतंजलि ही है ।

उनका ऐसा ही एक अद्‌भुत ग्रंथ है ''षडदर्शन समुच्चय'' जिसमें उस काल में विद्यमान सर्व दार्शनिक परम्पराओ में विशेष महत्वपूर्ण छः दर्शन की विशेष एवं मूलभूत पाये की समझ दी है । अभी आज भी भारतीय दार्शनिक परम्परा का अध्ययन करने वाले को छः ओ दर्शन का एक साथ निरुपण चाहिये हो तो उन्हें इस ग्रंथ का अवश्य अध्ययन करना ही पडता है । इस ग्रंथ की सबसे बडी विशेषता यह है की जब कोई भी व्यक्ति इस ग्रंथ में निर्दिष्ट जिस दर्शन का अध्ययन करता हो तब उसे ऐसा लगता नहीं है की यह मैं अन्य परम्परा के विद्वान के पास में अध्ययन कर रहा हुं, अर्थात आचार्य श्रीहरिभद्रसूरिजी ने प्रत्येक दार्शनिक परम्परा के साथ वफादार रहकर निरुपण किया है, कभी कहीं पर भी अपनी व्यक्तिगत मान्यताओ या स्वयं को जिस पर श्रद्धा है उस दर्शन की मान्यताओ को बीच में लाया नहीं है, उसके सिवाय अन्य किसी भी दर्शन का पक्ष लिये बिना शुद्ध निरुपण किया है, यह तभी संभव हो सकता है, की जब ग्रंथकार आचार्यश्री ने जिस उस परम्परा का किसी भी प्रकार के पक्षपात के बिना अध्ययन किया हो और उसे वास्तव में पचाया हो । इसी कारण से उनके इन ग्रंथो ने आज दिन तक जैन-जैनतर दार्शनिक परम्पराओं में विशिष्ट स्थान बनाये रखा हैं ।

श्री दंडक प्रकरण - ४

श्री गजसार मुनि

समुद्घातद्वार

वेय कसाय मरणे, वेउव्विय तेयअेयआहारे ।
केवलीय समुग्घाया, सत्त इमे हुंति सन्नीणं ।।१६

वेदना, कषाय, मरण, वैक्रिय तैजस, आहारक और केवली ये सात समुद्घात संज्ञी मनुष्यों को होते है ।

वस्त्र घडी करके सुखायें तो सूखने में उसे बहुत समय लगता है, परंतु यदि उसे खुल्ला कर सुखायें तो वह अल्प समय में ही सूख जाता है, यह हमारे रोजमर्रा के अनुभव की बात है । उसी तरह आत्मप्रदेश जब देहप्रमाण होते है, तब उसके साथ जुडे कर्मो का क्षय करने में , कर्म खपाने में बहुत समय लगता है । जब वही आत्मप्रदेश शरीर से बहार निकाले जाय और उन्हें विस्तृत करने में आये - १४ राज लोक में फैला दिया जाय तब उसके साथ जुडे कर्म अल्प समय में क्षय हो जाते है । जब जब कर्म के बडे जत्थे को खपाने की आवश्यकता महसूस हो तब तब उससे वेदनीय,मोहनीय (कषाय) आदि कर्मों का क्षय होता है । कर्म क्षय की क्रिया में यह समुद्घात की क्रिया सहायक बनती है । ऐसी सात समुद्घात की क्रिया केवल संज्ञी मनुष्य ही कर सकता है ।

सात समुद्घात के नाम निम्निलिखित है -

१) वेदना समुद्घात २) कषाय समुद्घात ३) मरण समुद्घात ४) वैक्रिय समुद्घात ५) तैजस समुद्घात ६) आहारक समुद्घात ७) केवली समुद्घात

समुद्घात की विशेष जानकारी आगे दी जायेगी -

समुद्घात

देह में रहे हुए आत्मप्रदेश जोर से अचानक शरीर के बाहर निकले, ज्यादा पुराने कर्मपुद्गलों की उदीरणा कर, कर्मों को भोगकर नाश करने की एक प्रकार की विशिष्ट प्रक्रिया वह जीव समुद्घात कहलाता है ।

जीव समुद्घात सात प्रकार से है -

१) वेदना समुद्घात - वेदना से अत्यंत व्याकुल जीव के आत्मप्रदेश एका एक जोर से शरीर में से बाहर निकल पडते है, अशाता वेदनीय कर्म के बहुत सारे पुद्गलों को भोगकर नाश कर देता है । आत्मप्रदेश पुनश्च शरीर में समा जाते है ।

२) कषाय समुद्घात - कषाय से व्याकुल बने जीव के आत्मप्रदेश एकाएक जोर से शरीर में से बहार निकल पडते है, मोहनीय कर्म के बहुत सारे कर्मपुद्गलों की उदीरणा करता है, उन कर्मों को भोगकर नाश करता है, आत्मप्रदेश पुनश्च शरीर में समा जाते है । कषाय समुद्घात में कषाय के कारण पुराने बहुत सारे कर्म खपाता है, नष्ट हो जाते हैं, परंतु उससे ज्यादा नये कर्म बंधे जाते है । अन्य किसी समुद्घात में नये कर्म बंधते नहीं ।

३) मरण समुद्घात - मरण समय में अत्यंत व्याकुल हुए जीव के आत्मप्रदेश एकाएक शरीर के बाहर निकलते है, आयुष्य कर्म के बहुत सारे पुद्गलों की उदीरणा करते हैं, भोगकर नाश करते है, उसके साथ ही मृत्यु को प्राप्त होते है । कोई जीव पुनः अपने मूल शरीर में दाखल होकर मृत्यु को प्राप्त करता है ।

४) वैक्रिय समुद्घात - उत्तर वैक्रिय शरीर बनाते वक्त वैक्रिय लब्धीवाला जीव अपने आत्मप्रदेशों को शरीर से बाहर निकालता है, वैक्रिय नामकर्म के बहुत सारे पुद्गलों की उदीरणा करता है, भोगकर नष्ट करता है, और उसके साथ ही वैक्रिय वर्गणा के पुद्गल ग्रहण कर उत्तर वैक्रिय शरीर बनाता है ।

५) तैजस समुद्घात - तेजोलेश्या अथवा शीतलेश्या का प्रयोग करते समय तेजस लब्धिवाला जीव अपने आत्मप्रदेशों को शरीर के बाहर निकालता है, तैजस नामकर्म के बहुत सारे पुद्गलों की उदीरणा करता है, उस समय तैजस वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण कर तेजोलेश्या अथवा शीतलेश्या का प्रयोग करता है ।

६) आहारक समुद्घात - आहारक शरीर बनाते समय आहारक लब्धिवाला जीव (चौदह पूर्वधर) अपने आत्मप्रदेशों को शरीर के बाहर निकालता है, आहारक नामकर्म के बहुत सारे पुद्गलों की उदीरणा करता है, भोगकर उनका नाश करता है, और उसी समय आहारक वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण कर आहारक शरीर बनाता है ।

७) केवली समुद्घात - चार अघाती कर्मों की स्थिति जब समान नहीं होती, नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म स्थिति जब आयुकर्म से ज्यादा होती है, तब चारो कर्मों की स्थिति समान करने के लिये केवली भगवंत आयुष्य के अंतिम अंतर्मुहुर्त में आठ समय का केवली सुमद्घात करते है । आठ समय में केवली भगवंत क्या प्रक्रिया करते है वह दर्शाते हुए कहते है -

प्रथम समय में केवली भगवंत अपने आत्मप्रदेशों का स्वदेह प्रमाण दंड बनाते है । यह दंड १४ राजलोक प्रमाण का बनाते है ।

दुसरे समय में अपने आत्मप्रदेशों को उत्तर दक्षिण (अथवा पूर्व-पश्चिम) बढाकर कपाट के जैसा आकार बनाते है ।

तीसरे समय मे अपने आत्म प्रदेशों को पूर्व पश्चिम (अथवा उत्तर दक्षिण) बढाकर मथानी जैसा आकार बनाते है ।

चौथे समय में चारों ओर का अवकाश पूरा कर संपूर्ण १४ राजलोक में आत्मप्रदेशों को विस्तारित करता है । (इस समय आत्मा के रुचक प्रदेश लोक के रुचक प्रदेश जहाँ होते है वहाँ रहते है) ।

पाँचवे समय में उलटी प्रक्रिया का प्रारंभ होता है । चार ओर का विस्तार केवली भगवंत संहरित करते है, और मथानी जैसा आकार बनाते है ।

छठ्ठे समय में एक कपाट संहरित होता है, बाकी कपाट जैसा आकार शेष रहता है ।

सातवे समय में दूसरा कपाट संहरित करते है, दंड जैसा आकार बनता है ।

आठवे समय में दंड संहरित कर केवली भगवंत अपने पूर्व देह प्रमाण हो जाते है ।

केवली समुद्घात से नाम,गोत्र, वेदनीय कर्म का अपवर्तना करण द्वारा बहुत विनाश होता है ।

अब नाम, गोत्र, वेदनीय कर्म की स्थिति आयुकर्म के स्थिति जितनी हो जाती है ।

किस जीव को कौन से समुद्घात होते है ?

सब जीवों को वेदना-कषाय और मरण समुद्घात हो सकते है । देव, नारकी और वैक्रिय लब्धिवाले जीवों को वैक्रिय समुद्घात हो सकता है । तैजस लब्धिवाले गर्भज पंचेन्द्रिय एवं तेजो अथवा शीतलेश्या प्रवर्तित करते वक्त देवों को तैजस समुद्घात रहता है ।

आहारक लब्धिवाले चौदह पूर्वधर महात्मा को आहारक शरीर बनाते वक्त आहारक समुद्घात होता है ।

केवली समुद्घात केवली भगवंतो को चार अघाती कर्मों की स्थिति समान नहीं होती तब होता है ।

समुद्घात

दंडक संख्या	दंडक नाम	समुद्घात
	वायुकाय	वेदना-कषाय-मरण - वैक्रिय (४)
	पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय वनस्पतिकाय, बे, ते, चौरेन्द्रिय	वेदना-कषाय-मरण (३)
१	गर्भज तिर्यंच	वेदना-कषाय-मरण-वैक्रिय और तैजस (५)
१	गर्भज मनुष्य	सभी सात समुद्घात होते है । छद्मस्थ को छः समुद्घात केवली को सिर्फ केवली समुद्घात (७)
१३	भवनपति (१०) व्यंतर, ज्योतिष और वैमानिक	वेदना-कषाय-मरण-वैक्रिय और तैजस (५)
१	नारक	वेदना-कषाय-मरण-वैक्रिय (४)

केवली समुद्घात

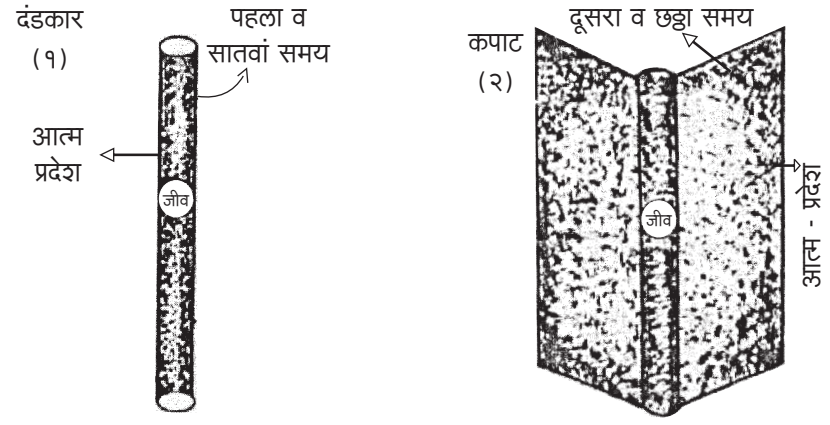

गुणस्थान क्रमारोह

आधार ग्रंथ - गुणस्थान क्रमारोह पू.आ. रत्नशेखरसूरि

प्रमत्त संयत गुणस्थान (चालु.....)

प्रमत्त संयत गुणस्थान में रहे हुए साधक को निरालंबन ध्यान करने का अधिकार नहीं माना है । निरालंबन ध्यान के लिये उसका निषेध करते हुए कहते है -

यावत्प्रमादसंयुक्त स्तावत्तस्यन तिष्टति ।
धर्मध्यानं निरालम्बमित्युचुर्जिन भास्कराः ।।२९।।

जीन याने ही भगवन्त रुपी सूर्य, भास्कर ऐसा कहते है की, जबतक साधक प्रमाद संयुक्त है तब तक उस साधु को आलंबन रहित धर्मध्यान संभवित नहीं है, होता ही नहीं है, क्योंकि इस गुणस्थान में धर्मध्यान मध्यम है, परंतु मुख्य वृत्ति से नहीं है अतः निरालंबन ध्यान करना अयोग्य है ।

यह बात नहीं मानता उसे फिर से हितशिक्षा देते है -

प्रमाद्यावस्यकत्यागा न्निश्चलद्यान माश्रयेत् ।
यौ सौनैवागमंजैनं, वेत्तिमिथ्यात्व मोहितः ।।३०।।

जो साधु प्रमादयुक्त है और सामायिकादि छह आवश्यकों को छोडकर निश्चल ध्यान करता है, उसे मिथ्यात्वी कहना, कारण की वह जैनागम को भी जानता नहीं । जिनशासन निश्चय और व्यवहार युक्त है । जो व्यवहार का लोप करता है वह मिथ्यात्वी है जिनशासन कहता है की निश्चय का अंगीकार करो पर व्यवहार को मत छोडो, जिसने व्यवहार छोडा उसने शासन का उच्छेद किया ऐसा समझो ।

दृष्टांत से यह बात समझाते है -

एक मनुष्य हररोज अपने घर नीरस भोजन करता है । एक बार किसी के यहाँ से आमंत्रण आया । आमंत्रण को मान देकर वह मनुष्य उसके घर भोजन के लिये गया । भोजन में अनेक प्रकार की सरस, स्वादिष्ट, रसवंती को ग्रहण किया । परंतु दुसरे दिन घर का भोजन भाया नहीं अतः उसने घर के भोजन का त्याग किया । सरस,स्वादिष्ट भोजन मिला नहीं, क्षुधा वेदनीय से वह मनुष्य व्याकुल एवं दुःखी हो गया । अतोभ्रष्ट, ततोभ्रष्ट होकर वह मरण को शरण हुआ ।

कथानक का उपनय दर्शाते हुए कहते है की छठ्ठेस्थान में रहा हुआ साधक छह आवश्यकादि क्रिया करते हुए सातवे गुणस्थान में पहुँचता है, वहाँ वह निरालंबन ध्यानामृत प्राप्त करता है । पुनश्च वह छठ्ठे गुणस्थानक पर आता है, उसे वहाँ नीरस भोजन तुल्य छह आवश्यकादि क्रिया अच्छी नहीं लगती अतः वह उन

क्रियाओं का त्याग करता है और क्रिया छोडने से (आलंबन छोडने से) निरालंबन ध्यानामृत की प्राप्ति होती नहीं। अतः वह उभय से भ्रष्ट होकर दुःखी दुःखी हो जाता है। अतः निश्चय और व्यवहार दोनों को जीवन में स्थान देना चाहिये।

जबतक अप्रमत्तदशा प्राप्त नहीं होती तब तक निश्चय को मन में रखकर व्यवहार में साधुयोग्य सब क्रियाएँ, छह आवश्यकादि करना चाहिये।

७) अप्रमत्त गुणस्थान

चतुर्थानाङ्कषायाणां जातेमन्दोदये सति ।
भवेत्प्रमाद हीनत्वादप्रमत्तो महाव्रतीः ।।३२।।

पूर्वोक्त पांच प्रमाद से रहित, संज्वलनादि कषाय, नोकषाय के मंदता से जिसकी अप्रमत्त वृत्ति हो जाती है ऐसा साधु अप्रमत्त संयत गुणस्थान में आकर बसता है। जैसे जैसे संज्वलन कषाय भी मंद मंद होते है, वैसे वैसे साधु की अप्रमत्तदशा विकसित होती जाती है। विषयसुख सुलभ होने पर भी उनकी ओर रुचि नहीं होती, वैसे वैसे जीव उत्तम-श्रेष्ठ तत्व को प्राप्त करता है।

नष्टा शेष प्रमादात्मा, व्रत शील गुणान्वितः ।
ज्ञानध्यानधनोमौनी शमनक्षपणोन्मुखः ।।३३।।
सप्तकोत्तरमोहस्य प्रशमाय क्षयायवा ।
सद्धयान साधनारंभं कुरते मुनि पुंगवः ।।३४।।

जिसने संपूर्ण प्रमाद का नाश किया है, पांच महाव्रत और अठ्ठारह हजार शीलांगरथ भेदवाले ब्रह्मचर्य सहित है, तत्व विवेचनरुप ज्ञान और एकाग्रतारुप ध्यान है धन जिनका ऐसे, ध्यान की शुद्धता के लिये मौन को धारण करने वाले ऐसे साधु महात्मा उदय में आये हुए मोहनीय कर्म की प्रकृतिओं को खपाते है और उदय में न आये हुए प्रकृतिओं को उपशमित करते हैं ऐसे महात्मा निरालंबन सद्ध्यान करते है।

सद्ध्यान के तीन प्रकार है - १) आरंभक २) संनिष्ठ और ३) निष्पन्न योग। बंदर की तरह चंचल होने वाले मन को स्थिर करने के लिये निरंतर नासिका के अग्रभागपर (नासाग्रे) जिन्होने दृष्टि को स्थापन कर धीर बन वीर आसन में बैठकर निष्कंप समाधि लगाई है वे ''आरंभक'' है।

वायु आसन , इन्द्रिय, मन, क्षुधा, निद्रा को जीतता है और वारंवार अंतःकरण में मैत्री, प्रमोद, करुणा, माध्यस्थ भावना से भावित होता हुआ जीव ध्यान के द्वितीय संनिष्ठ प्रकार में प्रवेश करता है।

अंतःकरण में से चिंतन को दूर कर मन में संपूर्ण विद्यारुपी अमृत को भरता है, जिसका चैतन्य निरंतर पान करता हुआ समाधि में लीन बनता है, वह अवस्था निष्पन्न योग कहलाती है।

इस अप्रमत्त संयत गुणस्थान में कैसा ध्यान संभवित है, यह बताते हुए कहते है -

धर्मध्यानं भवत्यत्र मुख्यवृत्या जिनोदितम् ।
रुपातीत तयाशुक्ल मपिस्यादंशमात्रतः ।।३५।।

इस गुणस्थान में जिनेस्वर परमात्मा ने कहा हुआ धर्मध्यान मुख्यतः होता है । इसके चार भेद पहले ही हमने जान लिये है । धर्मध्यान की चार भावनाअें है - १) मैत्री २) प्रमोद ३) माध्यस्थ ४) करुणा ।

धर्मध्यान के दुसरी तरह से भी चार भेद है १) पिंडस्थ २) पदस्थ ३) रुपस्थ और ४) रुपातीत ।

रुपातीत धर्मध्यान में आंशिक रुप से शुक्लध्यान है, पर वह गौण वृत्ति से है मुख्य वृत्ति से नहीं ।

इस गुणस्थान में रहा हुआ साधक सद्ध्यान में सतत लीन होने से उसे व्यावहारिक क्रिया के लिये अवकाश ही रहता नहीं । ऐसे समय में आवश्यकादि के अभाव में भी सद्ध्यान से शुद्धि होती है, यह बात बताते है -

इत्येतस्मिन् गुणस्थाने, नो सत्यावश्यकानिषट् ।
सन्ततध्यान सद्योगाच्छुद्धिः स्वाबाविकीयतः ।।३६।।

इस गुणस्थानक में सामायिकादि छह आवश्यक नहीं है । क्योंकि सामायिकादि आवश्यक तो व्यवहार क्रियारुप है, वह व्यवहार शुद्धि के लिये किये जाते है । परंतु इस गुणस्थानक में निरंतर सद्ध्यान के संयोग से स्वाभाविक शुद्धि ही है क्योंकि अनेक प्रकार के चित्त का संकल्परुप जो मल उसका अभाव रहता है । वैसे भी यहाँ स्वभावरुप निर्मलता ही रहती है । ध्यानरुपी भावतीर्थ से परमशुद्धि की प्राप्ति होती है । गरमी से अत्यंत आकुल व्याकुल व्यक्ति एक सरोवर के पास पहुँचती है, सरोवर के किनारे ठंडी हवा आने से उसकी आकुलता-व्याकुलता शांत होती है, गरमी में शाता मिलती है, सरोवर का मीठा जल पीने से प्यास मिटी, वैसेही सरोवर में स्नान करने से मलीनता दूर हुई, इसी तरह ध्यानरुपी तीर्थ के सेवन से क्रोध रुप गरमी शांत होती है , लोभ रुपी तृषा दूर होती है, अनादि काल से संचित कर्म रुपी मल भी नष्ट होता है ।

इस गुणस्थान में ५९ प्रकृति का बंध होता है, ७६ प्रकृतियों का उदय और ७३ प्रकृतियों की उदीरणा होती है । १३८ प्रकृति की सत्ता होती है ।

अब आगे की दो गाथाओं में ८ से १२ वे तक पांच गुणस्थानों का नाम और अर्थ बताते है -

अपूर्वात्मगुणामित्वादपूर्वकरणंमतम् ।
भावनामनिवृत्वा - दनिवृत्ति गुणस्पदम् ।।३७।।
आस्तित्वात्सूक्ष्मलोभस्य भवेत्सूक्ष्मकषायकम् ।
शमनाच्छान्तमोहंःस्यात् क्षपणात् क्षीणमोहकम् ।।३८।।

संज्वलन कषाय और नोकषाय के मंद उदय से जो परम आल्हाद की प्राप्ति होती है वह पहले कभी नहीं हुई थी वह यहाँ होती है अतः इसे अपूर्व गुणस्थान कहते है ।

देखे हुए, सुने हुए और अनुभवित जो भोग उनकी इच्छा आकांक्षा आदि संकल्प रहित होकर

परमात्मतत्व पर निश्चल होकर एकाग्र ध्यान से अलग न हो उसे अनिवृत्ति गुणस्थान कहते है । इस गुणस्थान को अनिवृत्ति बादर गुणस्थान भी कहते है, क्योंकि यहाँ साधक अप्रत्याख्यानादि १२ कषाय और ९ नोकषाय को क्रम से उपशामित के लिये अथवा खपाने के लिये तैयार होता है । अतः इस गुणस्थान को अनिवृत्ति बादर गुणस्थान कहते है ।

सूक्ष्म परमात्मतत्व के बल से मोहनीय कर्म की २० प्रकृति शांत अथवा क्षीण होने से सूक्ष्म संपराय गुणस्थान। लोभ के सूक्ष्म अंश के होने से सूक्ष्म संपराय गुणस्थान कहलाता है । संपराय का अर्थ है कषाय, जहाँ सूक्ष्म कषाय है उसे सूक्ष्म संपराय कहते है ।

कषायों का क्षय न करते जहाँ केवल उपशम ही होता है और जो अपने सहज स्वभाव बल से संपूर्ण मोहनीय कर्म की प्रकृतिओं के उपशमन से उपशान्तमोह नामक ग्यारहवाँ गुणस्थानक जानना ।

क्षपकश्रेणी पर आरुढ हुआ साधक दसवें गुणस्थान में संपूर्ण कषायों को निःशेष कर शुद्ध आत्मबल से मोहनीय कर्म खपाकर बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान को प्राप्त करता है ।

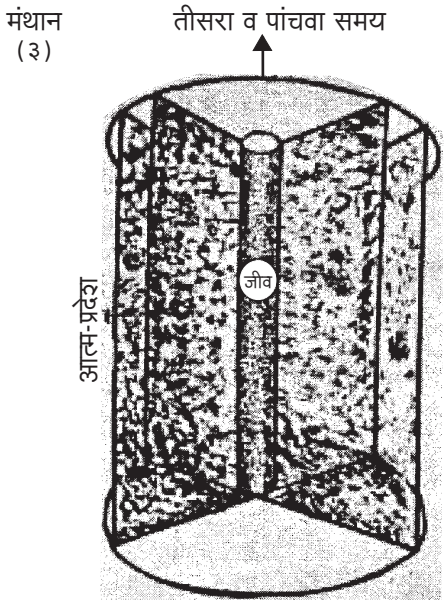

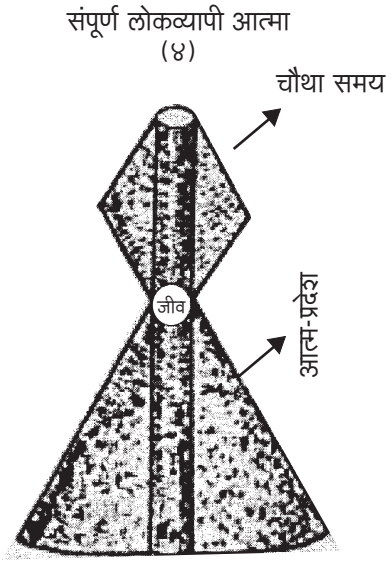

आलोचना

इस चौवीसी से पिछली अस्सीवीं चौवीसी में किसी राजा को बहुत पुत्रो के बाद सैंकडो उपचार करने पर एक पुत्री हुई । बहुत ही मानी हुई व लाडप्यार में पली हुई पुत्री ने स्वयंवर मंडप में वर को पसंद किया पर दुर्भाग्य से लग्नमंडप में ही पति की मृत्यु हो गयी । ऐसे प्रसंग से वैराग्य पायी हुई लक्ष्मणा सुंदर तरीके से श्राविका योग्य जीवन जीने लगी । एक बार गुरु की वैराग्यवाणी सुन उसने दीक्षा अंगीकार की । यह लक्ष्मणा साध्वीजी एक दिन चिडे चिडियां की जोडी को मैथुन करते देख मन में विचार करने लगी की '' अरिहंत ने मैथुन सेवन की आज्ञा क्यों नहीं दी ? वे अवेदी थे, वो सवेदी का दुःख कहां से जानेगें ? क्षणभर ऐसा विचार करने पर तुरंत पश्चाताप हुआ, अरे...अरे.... मैंने गलत सोचा, अब मैं यह पाप किस तरह आलोचित करुंगी ? ऐसा विचार कर लज्जित होने के बावजुद भी जब तक प्राणी सशल्य है तब तक पापशुद्धि कहां से होगी ? ऐसा विचारकर आलोचना लेने में उत्साह रख उठकर चलने लगे.... कदम उठाते है ऐसे में पैर में कांटा लगा, यह अपशकुन होने से आलोचना लेने का उत्साह भंग हो गया इसलीये '' ऐसा विचार करने से क्या प्रायश्चित आता होगा ? '' ऐसा सोच दूसरे का नाम लेकर कपटपूर्वक गुरु के पास से आलोचना पूछी, पर लज्जा और भय से साक्षात स्वयं का नाम लेकर नहीं पूछा । बाद में ऐसा विचार करने के लिये प्रायश्चितरुप में पचास वर्ष तक तीव्र तपश्चर्या की । पारणे में भी विगईरहित ऐसा दस वर्ष तक छट्ठ, अट्ठम, दशम (चार उपवास) दुवालश (पांच उपवास) करके उसी तरह दो वर्ष उपवास करके दो वर्ष भोजन करके, सोलह वर्ष तक मासक्षमण करके, बीस वर्ष तक आयंबिल करके इस तरह लक्ष्मणा साध्वीजी ने पचास वर्ष तक तप किया ।

ऐसा कठिन, दुस्कर तप करने से भी वे शुद्ध नहीं हुए पर आर्तध्यान में मरण पाकर दास-दासी आदि असंख्य भवो में वे तीव्रतर दुःख अनुभव कर अंत में श्रीपद्मनाभ नामक तीर्थंकर के तीर्थ में सिद्धि पद को पायेंगे ।

यह जानकर मन में पाप रखे बिना आत्मशुद्धि हेतु आलोचना करना यह अति आवश्यक है ।

इसलीये ऐसा लगता है, ''मानव मात्र भूल का पात्र'' भूल भले हो पर भूल में से वापस लौटने, पुनः वह भूल न हो इसके लिये आलोचना अत्यन्त आवश्यक है ।

एक बार गणधर गौतमस्वामी ने प्रभु महावीर स्वामी को प्रश्न पूछा '' आलोअणयाहणं भंते ! जीवे किं जणई?''

अर्थात आलोचना लेने से हे भगवंत ! जीव क्या पाता है ?

जवाब देते हुए प्रभु महावीर ने कहा -

''गोयम ! आलोअणयाणमं माया निआण, मित्यादंसण सल्लणं, अणंतसंसार वड्ढणाणं उद्धरणं करेई । अज्जुभावंचणं जणई । अज्जुभाव पाडवन्ने माणं जीवे अमाई इथ्थीवेअं नपुंसम वेअंच न बंधइ । पुव्व बद्धं चणं निज्जरेइ ।''

हे गौतम ! आलोचना लेने से माया शल्य, नियाण शल्य, मिथ्यात्व शल्य, जो अनंत संसार को बढाने वाले है, उनका नाश होता है । सरलभाव पना प्राप्त होता है, सरल भावपना पाने से कपट रहित होते है । स्त्रीवेद, नपुंसकवेद नहीं बंधता है, पूर्व बांधे हुए कर्मो की निर्जरा होती है, क्षय करता है, कम करता है.....

उपरोक्त संवाद पढकर कोई भी बुद्धिशाली जीव विचार करे तो उसे ख्याल आयेगा की उसका जीवन कदम-कदम पर पाप से भरा हुआ है, कभी काया से पाप होते है, कभी सावद्य (पापकारी) वचन बोलने में आ जाते है, मन से तो लगभग अविरत पापी विचारो की न रुकने वाली लंबी श्रृंखला चालू ही रहती है । ऐसे समय में जीवन की पद्धति भी ऐसी है की जीव को अनिच्छा से भी पाप की तरफ खींच ले जाती है, ऐसे समय में यदि जीव परमात्मा के बताये आलोचना के मार्ग पर आगे बढे, आलोचना द्वारा आत्मशुद्धि प्राप्त करे तो अनेक अनेक पापो की परम्परा को अटका सकता है। निकाचित बांधे हुए कर्म को शिथिल बना, क्षय कर सकता है । दुर्गति का निवारण, सद्गति को सहजता से पा सकता है । आलोचना के मार्ग को स्वीकार कर अनेक आत्माओ ने विगति को प्राप्त किया है । अनेक आत्माओ ने दुर्गति दूर कर,सद्गति की परम्परा और वक्त आने पर सिद्धि प्राप्त की है । ऐसे विविध लाभो से युक्त और अनेक दोषो से मुक्त कराने वाली आलोचना को जानने, समझने का और इसके द्वारा जीवन का सुंदर तरीके से शृंगार करने का सफल प्रयोग करने प्रयत्नशील बनते है ।

आलोचना लेने से होने वाले लाभ

लहुआ ल्हाईजणणं, अप्पपर निवत्ति अवज्जवं सोही ।
दुरकक्करणं आणा, निस्सलतंच सोहीगुणा ।।

आलोचना लेने से आलोचक को निम्न अनुसार लाभ होते है -

१) जैसे बोझा उठाने वाले का बोझा दूर करने पर हल्का होता है, वैसे ही शल्य (पाप) उद्धारने (आलोचना लेने से) आलोचक हल्का होता है ।

२) पाप (दोष) दूर होने से प्रमोद उत्पन्न होता है .....

३) स्वयं के और अन्य के दोषो की निवृत्ति होती है । आलोचना लेने से स्वयं के दोषो की तो निवृति होना तो सहज है, पर एक को आलोचना करते देख दूसरे लोग भी आलोचना लेने प्रवृत होते है .....

४) सुंदर तरीके से आलोचना लेने से निष्कपटीपन आता है.....

५) अतिचार रुपी मेल के दूर होने से आत्मा की शुद्धि होती है.....

६) दुष्करकारता होती है, दोषो को (पापो को) गुरु के समक्ष प्रकृट करना यह अत्यन्त दुष्कर है, कारण की इस जीव को अनादि काल से पाप का ही अभ्यास है... आलोचना लेने का अभ्यास नहीं है, इसीलिये इसका अभ्यंतर तप में समावेश करने में आया है.....

७) आलोचना लेने से तीर्थंकर परमात्मा की आज्ञा का पालन होता है.....

८) वैसे ही आत्मा निशल्यपन प्राप्त करती है । तीव्रतर अध्यवसाय से किये हुए बडे निकाचित पाप, बाल,स्त्री, यति हत्या, देव आदि द्रव्य भक्षण, राजा की रानी के साथ गमन आदि का महापाप, सम्यक् विधिपूर्वक गुरु का दिया हुआ प्रायश्चित ग्रहण करे तो वो उसी भव में भी शुद्ध हो सकता है । यदि ऐसा नहीं होता तो द्रढप्रहारी वगैरह की उसी भव में मुक्ति कैसे होती ? इसीलिये प्रतिवर्ष एवं प्रत्येक चातुर्मास में आलोचना अवश्य ग्रहण करनी ही चाहिये ।

आलोचनाचार्य कैसे होते है ?

आयारव माहरवं, ववहारुव्वीलए पकुव्वीय ।

अपरिस्सावी निज्जव, अवाय दंसी गुरुणिओ ।।

आलोचनाचार्य नीचे बताये गुणो से युक्त होते है -

१) ज्ञान आदि पंचविध आचारवान होते है ।

२) आलोचना लेने वाले ने अपने दोष कहकर दिखाये है, उनका चौतरफा विचार करके धारण करने वाले आधारवान होते है ।

३) आगम आदि पंच प्रकार के व्यवहार का ज्ञान वो आगम व्यवहारी होते है, उसमे

(अ) केवली, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चौदहपूर्वी, दशपूर्वी, नवपूर्वी के ज्ञान वाले वो आगम व्यवहारी गिने जाते है....

(आ) आठपूर्वी से क्रमशः उतरते एक पूर्वधारी इसी तरह अर्धपूर्वधारी, एकदशांगधारी अंत में निशीथ आदि श्रुत के पारगामी वो श्रुत व्यवहारी माने जाते है....

(इ) दूर रहे हुए आचार्य एवं गीतार्थ यदि परस्पर मिल सके ऐसे न हो तो परस्पर पूछकर या गुप्त रुप से एक दूसरे की सम्मति लेकर आलोचना दे तो वे आज्ञा व्यवहारी माने जाते है.....

(ई) अपने गुर्वादिक ने किसी को आलोचना दी हो वो धारण करके (स्मरण में) रखा हो उस अनुसार आलोचना दे तो वो धारण व्यवहार कहलाता है ।

उ) आगम में कही हुई रीत से कुछ ज्यादा या कुछ कम अथवा परम्परा से आचरण हुआ हो ऐसे आलोचना दे वो जीत व्यवहार कहलाता है ।

४) आलोचना लेने वाले को ऐसे वैराग्य की युक्ति से पूछे की वो अपना पाप प्रकाशित करने में लज्जित नहीं हो ..

५) आलोचना लेने वाले को सम्यक् प्रकार से पापशुद्धि कराने वाले वो प्रकृर्वी कहलाते है.....

६) आलोचना लेने वाले का पाप दूसरे किसी को बताये नहीं वो अपरिश्रावी कहलाते है .....

७) आलोचना लेने वाले की शक्ति देख, वो जितना निर्वाह कर सके इतना ही प्रायश्चित दे वो निर्वाक कहलाता है....

८) अच्छी तरह से आलोचना न ले और सम्यक् आलोचना न बताये तो दोनों जन दोनों भव में दुःखी होंगे, ऐसा बतलाये वो आपायदर्शी कहलाता है ।

उपरोक्त आठ प्रकार के गुण हो उसके पास से ही आलोचना लेना चाहिये.....

आलोचना लेने वाले के दस दोष

आकंपइता अनुमाणइत्ता, जं दिट्ठं बाहिरंव सुहुमेवा !
छन्न सद्दाउलय, बहुजण अवत्ततंसे वी ।।

जिस तरह आलोचना देने वाले गुरु भगवंतो के गुण बताये गये उसी तरह आलोचना लेने वाले को कैसे कैसे दोष लगने की संभावना होती है वे दस दोष बताये गये है -

१) यदि मैं गुरु की वैयावच्च करुंगा तो मुझे प्रायश्चित तप थोडा ही आयेगा, ऐसे आशय से गुरु की बहुत वैयावच्च करके आलोचना ले तो वो **''आकंप''** दोष है ।

२) अमुक आचार्य सभी को हल्का प्रायश्चित देते है ऐसा अनुमान करके जो हल्का प्रायश्चित देते हो उनके पास जाकर आलोचना ले तो वो **''अनुमान दोष''** दूसरा समझना ।

३) जो-जो दोष खुद के द्वारा हुए हो उसमें से दूसरे किसी ने जो जो दोष देखे है उनकी ही आलोचना ले पर अन्य किसी के द्वारा नहीं देखे गये दोषो की आलोचना नहीं ले तो वो **''दृष्ट दोष''** है ।

४) जो जो बडे दोष लगे है, उन्हें आलोचित करे पर छोटे दोषो की अवगणना करके उनकी आलोचना नहीं लेना वो **''बादर दोष''** है ।

५) लोगो को दिखाने के लिये छोटे दोषो की आलोचना ले पर बडे दोषो की आलोचना नही ले वो **''सूक्ष्म दोष''** है ।

६) चुपचाप आकर या गुरु बराबर सुन न सके इस तरह से आलोचना ले तो वो **''छन्न दोष''** है ।

७) शब्दाकुल के वक्त यानि बहुत सारे लोग बोल रहे हो उनके बीच खुद भी बोल जाय या गुरु भी बराबर सुन नहीं सके ऐसे आलोचना ले वो **''शब्दाकुल दोष''** है ।

८) बहुत सारे लोगों को सुनाने हेतु ऊंची आवाज से आलोचना ले वो **''बहुजन दोष''** है ।

९) छेद ग्रंथो के रहस्य से अंजान गुरु के पास आलोचना ले वो **''अव्यक्त दोष''** है ।

१०) जैसे ''दोष'' खुद ने लगाये है, वैसे ही दोष लगाने वाला कोई अन्य व्यक्ति गुरु के पास से आलोचना देख वो ही प्रायश्चित खुद भी कर ले वो **''तत्सेवी दोष''** है ।

हमें जीवनशुद्धि, आत्मशुद्धि के लिये आलोचना अवश्य लेने की ही है, परंतु आलोचना लेते वक्त उपरोक्त बताये गये दस दोषों में से कोई दोष न लगे, ऐसी सरलता से आलोचना लेने की है । जैसे आलोचनाचार्य कहे है ऐसे आलोचनाचार्य को शोधकर उनके पास अपने दोष बतलाकर योग्य प्रायश्चित लेने का है । गुरुभगवंत जो प्रायश्चित दे वो स्वीकार कर श्रद्धापूर्वक पूर्ण करने का है । जीवन में ऐसे दोषों का सेवन न हो इसके लिये सावधान बनने का है, दोष मुक्ति का यही एक राजमार्ग है, जिसका अनसरण करके अनेकानेक आत्माये शुद्ध एवं सिद्ध बने थे, बन रहे है, और बनेंगे.....

आइये ! हम भी इस मार्ग पर कदम बढाये.....